श्रीहरिः

शकुन्तला

लेखक

श्रीमैथिलीशरण गुप्त

प्रकाशक

साहित्य-सदन,

चिरगाँव (झाँसी)

[illegible] संस्करण] संवत् १९८४ [मूल्य ।=)

भेंट—

—राय श्रीकृष्णदास को काशी आने की स्मृति में।
किस जन्म में? कैसे? कब? गुप्त-मिलन की कृति में॥

मैथिलीशरण गुप्त

श्रीगणेशायनमः

शाकुन्तला

उपक्रम

[१]

पञ्चवटी की छाया मे जो खेल खगों से करती है,
ममता-मूर्ति-समान मृगो के मध्य समोद विचरती हैं।
मुसका रहे देख कर राघव जिनकी यह अद्भुत लीला—
वही विदेह-नन्दिनी हम पर रहे सदा करुणाशीला ॥

[२]

मृगया-रत दुष्यन्त भूप को एक कृष्ण-मृग मन भाया—
होम-धूम-धूसरित कण्व के पुण्याश्रम मे ले आया।
मृग के बदले मृगनयनी को वहाँ महीपति ने पाया—
और यहाँ श्री कालिदास ने श्रवण-सुधा-रस बरसाया ॥

[३]

करके उस रस का आस्वादन हुए विरस भी सरस अहा!
भारत मे क्या सभी जगत मे जिसका सौरभ फैल रहा।
प्रस्तुत नूतन पद्य-पात्र यह उसी सु-रस-हित किया गया,
अहोभाग्य है यदि इसमे यह एक बूँद भी लिया गया ॥

जन्म और बाल्यकाल

[१]

एक बार मुनिवर कौशिक के तप से सुरपति त्रस्त हुआ,
इन्द्रासन ले ले न कहीं मुनि, यह विचार कर व्यस्त हुआ।
भेजी तब अप्सरा मेनका उसने ऐसी रूपवती—
जिसे देख कर अपना संयम रख न सके वे महायती!

[२]

यथा समय इस छलबल का फल शकुन्तला का जन्म हुआ,
शुक्ल द्वितीया में प्रदोष से चन्द्रकला का जन्म हुआ।
किन्तु साथ ले गई तपोधन-मात्र मेनका मोदमयी,
हाय! हाय! उस कुसुमकली को वहीं विपिन में छोड़ गई!

[३]

जिस पर निज पक्षों की छाया रक्खी शकुन्त द्विजवर ने—
मृदु-कोपल-सी यह मुनि-कन्या देखी कण्व मुनीश्वर ने।
दयाशील थे, उसे उठा कर निज आश्रम में ले आये,
हुई सुता तब से शकुन्तला और पिता वे कहलाये॥

[४]

वहाँ गौतमी तपस्विनी ने उसे प्रेमपूर्वक पाला,
दीप-शिखा की भाँति कुटी में फैला उसमें उजियाला।
त्यागी तथा तपस्वी मुनिवर कुछ गृहस्थ-से जान पड़े,
जग से उदासीन होकर भी होते हैं मुनि सन्त बड़े॥

[५]

पुण्य तपोवन की रज में वह खेल खेल कर खड़ी हुई;
आश्रम की नवलतिकाओं के साथ साथ कुछ बड़ी हुई।
पर समता कर सकीं न उसकी राजोद्यान-मल्लियाँ भी,
लज्जित हुईं देख कर उसको नन्दन-विपिन-वल्लियाँ भी!

[६]

उसके रूप-रङ्ग-सौरभ से महक उठा वह वन सारा;
जीवन की धारा थी मानों मञ्जु मालिनी की धारा।
रखती थी प्रेमार्द्र सभी को वह अपने व्यवहारों से;
पशु-पक्षी भी सुख पाते थे उसके शुद्धाचारों से॥

[७]

कभी घड़ों में भर भर कर वह पौधों को जल देती थी:
कभी खगों के, कभी मृगों के बच्चों की सुध लेती थी।
तोते कभी पढ़ाती थी वह, कभी मयूर नचाती थी,
सहचरियों के साथ छाँह में क्रीड़ा कभी मचाती थी॥

[८]

सीमा-रहित अनन्त-गगन-सा विस्तृत उसका प्रेम हुआ:
औरों का कल्याण-कार्य्य ही उसका अपना क्षेम हुआ।
हिंसक पशु भी उसे देखकर पैरों में पड़ जाते थे,
मुँह में हाथ दाब कर धीरे मीठी थपकी पाते थे!

[९]

बुद्धि कुशाग्र-भाग सी उसकी शिक्षा पाने में तेज़ी,
पाठ याद कर लेती थी वह अनायास बैठी बैठी।
देव-देवियों के चरित्र जब प्रेम सहित वह गाती थी—
तब मालिनी नदी भी मानो क्षण भर को थम जाती थी।

[१०]

हंस और मीनों से उसने जल में तरना सीखा था,
शीतल और सुगन्ध पवन से मन्द विचरना सीखा था।
होम-शिखा से सद्भावों का जग में भरना सीखा था,
आश्रम के व्रत विटपों से परहित करना सीखा था॥

[११]

मुक्त नभोमण्डल-सा अविचल निर्मल जीवन था उसका,
उषा के प्रकाश-सा पावन निरालस्य तन था उसका।
उन्नत, उच्च, हिमालय जैसा अति व्रत मन था उसका,
प्रकृत-अधिष्ठात्री-सी थी वह, धन्य तपोवन था उसका।

[१२]

गुरुजन की सेवा सुश्रूषा भक्ति सहित वह करती थी,
शीतल-जल-युत कन्द-मूल-फल उनके सम्मुख धरती थी।
आते थे जो अतिथि वहाँ पर अतिशय आदर पाते थे,
मुक्त कण्ठ से उसके सद्गुण गाते गाते जाते थे॥

[१३]

नया नया उत्साह कार्य्य में उसे सर्वदा रहता था ;
दया और ममता का मिलकर स्रोत निरन्तर बहता था ।
उसकी भोली भाली सूरत एक बार जिसने देखी—
मानों सुर-गुरु-कन्या ही की अनुपम छवि उसने लेखी ॥

[१४]

ज्यों ज्यों बढ़ी हुई वह त्यों त्यों पिता कण्व का प्यार बढ़ा,
किन्तु ब्याह का सोच हुआ फिर जब यौवन का तार चढ़ा ।
भला कहाँ से वर आवेगा इस बाला के योग्य यहाँ ?
कल्पलता के योग्य अवनि पर पारिजात की प्राप्ति कहाँ ?

[१५]

पर सखियों के साथ सर्वदा शकुन्तला हर्षित रहती;
उसी एक पर-सेवा-व्रत के ऊपर आकर्षित रहती ।
जब अनुसूया प्रियंवदा में परिणय-चर्चा आती थी—
तब केवल सिर नीचा कर वह मुसका कर रह जाती थी ॥

[१६]

नित्य उरोजों के उभार से अङ्गों को कसने वाली—
वल्कल की चोली हँस हँस कर ढीली करती थी आली ।
फूलों के गहने पहने यह विपिन-वासिनी सुकुमारी—
उतरी था भूतल पर मानों दिव्य लोक की नव-नारी ॥

दर्शन

[१]

एक बार शकुन्तला को सौंप आश्रम भार—
साम तर्पण रये हुए थे कण्व करुणागार।
उन दिना ही सर्वथा निज धर्म में अनुरक्त—
आगये सहसा वहाँ दुष्यन्त मृगयासक्त॥

[२]

उस शुभाश्रम के द्रुमों को देखते ही छाँह—
फड़कने उनका लगी शुभ-शकुन-सूचक बाँह।
तब हुआ फल के विषय में इस प्रकार विचार—
मुक्त है सर्वत्र ही भवितव्यता का द्वार॥

[३]

सोचते ही थे अभी इस भाँति वे भूपाल,
"इधर आली! इधर" यह वाणी हुई तत्काल।
चौंक कर खिंचकर रये उस ओर वे सस्नेह,
था वहीं भवितव्यता का द्वार निस्सन्देह॥

[४]

कर रही थी जो अलौकिक रूप-रस की वृष्टि,
जा पड़ी सखियों समेत शकुन्तला पर दृष्टि।
जो कि आश्रम वाटिका में सींचती थी नीर,
नव-यौवन-पूर्ण जिसका था सुभव्य शरीर॥

[५]

शुद्ध होम-शिखोपमा उस सुन्दरी को देख—
रह गये निस्तब्ध-से नृप सफल लोचन लेख
व्यर्थ भूषण-भार से बढ़ता न उसका मान,
थी स्वयं ही वह सुवर्णा रत्नराजि-समान ॥

[६]

भ्रू कुटिल थे किन्तु सुस्थिर, पलक-पट अनमोल,
दीर्घ थे, द्युति-पूर्ण थे पर थे न लोचन लोल।
भाव-सा झलका रहे थे विमल गोल कपोल,
घोल देते थे सुधा-सी सरल मुख के बोल ॥

[७]

घट-वहन से स्कन्ध नत थे और करतल लाल,
उठ रहा था श्वास-गति से वक्षदेश विशाल।
श्रवण-पुष्प-परिग्रही था स्वेद-सीकर-जाल,
एक कर में थी सँभाले मुक्त काले बाल ॥

[८]

पुष्प-राशि-समान उसकी देख पावन कान्ति—
भूप को होने लगी जङ्गम-लता की भ्रान्ति।
रूप मनोमिष से उन्हीं के जान कर अरविन्द—
घूमता था वर वदन पर एक मुग्ध मिलिन्द !

[९]

किन्तु अलि की ओर से दृग फेर बारम्बार—
मोहनेसी वह कला भर-भिर भृकुटि-सञ्चार !
अन्त में कहने लगी—अब क्या करूँ मैं हाय !
आलियों ने तब बताया इस प्रकार उपाय—

[१०]

"इस समय दुष्यन्त को ही रक्षार्थ पुकार,
है सताता का निरन्तर मूल पर ही मार।"
या मनन सुन और अवसर देखकर अनुरूप—
इस तरह कहते हुए प्रकटित हुए झट भूप—

[११]

"पौरवों के हाथ जब तक है सुशासन-भार,
कौन करता है यहाँ पर ढीठ अत्याचार ?"
देखकर आया अचानक भूप का निज पास—
चौंक कर आदर किया मन में उन्हें सन्तोष ॥

[१२]

हुई मुग्ध शकुन्तला भी नृपतिवर का देख,
मन लेता था जिन्हें अनङ्ग भी सविशेष।
उस अनाहूत अतिथि को, आतिथ्य से सुपचार,
दे दिया उसने हृदय भी शीघ्र अपने आप ॥

[१३]

द्रवित दोनों ही हुए पाकर प्रणय का तापः
आलियों के बीच में होने लगा अनुलाप ।
आदि हो तो हो, नहीं है उस कथा का अन्त,
था समय रति-काम-युत वह मूर्तिमन्त वसन्त ॥

[१४]

विवश आया बिछड़ने का समय दोनों ओर—
बिछड़कर भी वे परस्पर बन गये चितचोर !
मार्ग में, मिस से, ठिठकती, ठहरती सौ बार—
गई वन शकुन्तला नृप को निहार निहार ॥

[१५]

इधर नृप को भी विवश करना पड़ा प्रस्थान,
किन्तु उनका मन वहीं पर होगया रममाण !
प्रवश तनु ने भी दिखाई अलसता तत्काल—
अन्तु आश्रम के निकट ही दिये डेरे डाल ॥

---

[१]

शकुन्तला की चाह में होकर अधिक अधीर।
फिरते थे दुष्यन्त नृप मन्नु मालिनी-तीर॥
मन्नु मालिनी-तीर विरह के दुख के मारे,
करते विविध विचार मिलन की आशा धारे।
होती है ज्यों चाह दीन-जन को कमला का,
थी चिन्ता गम्भीर चित्त में शकुन्तला की॥

[२]

होता जिसका ध्यान ही अति अप्रिय सब काल,
अनुभव ऐसे विरह का क्या न करे बेहाल?
क्यों न करे बेहाल विरह का पाला भारी,
जान पड़े क्यों भार न जग की बातें सारी?
प्रिय मिलनातर कौन नहीं सुख दुख है पाता?
अहो! विरह का समय बड़ा ही दुस्सह होता॥

[३]

"दुखदायी हो आज यह शीतल सुखद समीर।
प्रिया बिना करता व्यथित मेरा तन शरीर।
मेरा तन शरीर न सुख इससे पाता है,
उलटा आग-समान उसे यह झुलसाता है।
विज्ञों ने यह बात बहुत ही ठीक बताई—
बन जाती है कहीं सुधा भी विष दुखदायी॥

[४]

करता है तू पञ्चशर ! विद्ध यदपि मम चित्त ।
हूँ कृतज्ञ तेरा तदपि मैं इस कार्य्य-निमित्त ॥
मै इस कार्य-निमित्त मानता हूँ गुण तेरा,
इस प्रकार उपकार मार ! होता है मेरा ।
जिस सुमुखी का विरह धैर्य्य मेरा हरता है,
उसके ही मिलनार्थ प्रेरणा तू करता है ॥"

[५]

इस प्रकार से घूमते छोड़ काम सब और ।
देखी नृप ने निज प्रिया एक मनोहर ठौर ॥
एक मनोहर ठौर पड़ी पल्लव-शय्या पर,
क्षीण कलाधरकला-सदृश तो भी अति सुन्दर ।
लगे देखने नृपति उसे तब बड़े प्यार से,
देख न कोई सके खड़े हो इस प्रकार से ।

[६]

जैसे उसके विरह में व्याकुल थे दुष्यन्त ।
वह भी थी उनके बिना व्यग्र, विकल अत्यन्त ॥
व्यग्र-विकल अत्यन्त, नहीं धीरज धरती थी;
प्रेम-सिन्धु-बड़वाग्नि-बीच जल जल मरती थी ॥
सब शीतल उपचार दहन करते थे ऐसे—
नव नलिनी को तुहिन दहन करता है जैसे ॥

[७]

होती ज्यों निशि में विकल काकी कोक-विहीन।
थी त्यों ही वह प्रिय बिना विरह विकल, अति दीन॥
विरह विकल, अति दीन न कल पाती थी पलभर,
दोनों सखियाँ यद्यपि यत्न में थीं अति तत्पर।
क्षण क्षण में विरहाग्नि धैर्य्य उसका थी खाती,
औषधियों से दूर मानसिक व्याधि न होती॥

[८]

इस दुख से ही दुखित हो, सखियों का मत मान।
उस मृगनयनी ने लिखा प्रेम-पत्र धर ध्यान॥
प्रेम-पत्र धर ध्यान लिखा दुष्यन्त भूप को,
लोकोत्तर लावण्य, मनोमोहक सुरूप को।
मानो उसने सुना स्वयं आशा के मुख से—
है बस यही उपाय मुक्तिदाता इस दुख से॥

[९]

करते रचना पत्र की धरे हुए प्रिय ध्यान।
वह वियोगिनी बन गई संयोगिनी-समान।
संयोगिनी-समान दृष्टि-पथ में आती थी,
शब्द सोचती हुई अलौकिक छवि पाती थी।
उन्नत था भ्रू-लता, नयन थे मन को हरते,
पुलकित युगल कपोल प्रकट पति में रति करते॥

[१०]

"प्रियवर ! मैं तव हृदय की नहीं जानती बात।
सन्तापित करता मुझे कुसुमायुध दिन-रात॥
कुसुमायुध दिन-रात घात करता रहता है,
तव मिलनातुर देह दाह दुस्सह सहता है।
विधु-वियोग से विमुद कुमुदिनी होती सत्वर,
पर विधु-मन को कौन जान सकता है, प्रियवर!"

[११]

प्यारे पति को पत्र मे लिखकर यों सब हाल।
लगी सुनाने वह उसे सखियों को जिस काल॥
सखियो को जिस काल पत्र वह लगी सुनाने,
चन्द्र-वदन से प्रेम-सुधा-धारा बरसाने।
सफल मान दुष्यन्त सुकृत इससे निज सारे,
होकर झटपट प्रकट वचन बोले यों प्यारे—

[१२]

"देता है कृशतनु ! तुझे ताप मात्र ही काम।
किन्तु भस्म करता मुझे! निशिदिन आठों याम॥
निशिदिन आठों याम काम है मुझे जलाता,
दहन-दुःख-अनुभवी तदपि वह दया न लाता।
कुमुद्वती का दिवस हास्य ही हर लेता है,
पर विधु को वह नाम दोषसा कर देता है॥"

[१३]

सहसा ऐसे मिलन से हुए भाव जो व्यक्त।
उनके लिखने में अहो! हम हैं यहाँ अशक्त॥
हम हैं यहाँ अशक्त मिलन-सुख समझाने में,
प्रणयिजनों के चरित नहीं आते गाने में,
काव्य-कथन-साहस्य किया जा सकता कैसे?
समझेंगे बस वही मिलें जो सहसा ऐसे॥

---

[१]

होकर अति सिद्ध विशुद्ध प्रेम के तप मे,
करके गान्धर्व विवाह लता-मण्डप मे ।
दोनों प्रेमी कृतकृत्य हुए निज मन में,
वह मौन तपोवन पलट गया उपवन में !

[१]

थी शकुन्तला गुणवती, सुन्दरी, जैसी—
दुष्यन्त भूप की गुणावली थी वैसी ।
सुख और शान्ति के श्रेष्ठ भाव मिल मिल कर,
करते थे नित्य नवीन खेल खिल खिल कर ॥

[३]

हर्षित होते थे हार गूँथ कर दोनो,
पहनाते थे फिर उन्हे परस्पर दोनों ।
पल पल मे फिर वे उन्हें बदल लेते थे,
मिलकर पौधों को कभी सलिल देते थे ॥

[४]

पिय बिना प्रिया से रहा नहीं जाता था,
पर उनको उसका हरिण न पंसियाता था !
कहते थे हँसकर भूप गिरा तब ऐसी—
है तुम दोनों की दृष्टि एक ही जैसी ॥

[५]

फल-चिन्ह दिखाती हुई, हर्ष में भूली—
नृप की शकुन्तला प्रीति-लता-सी फूली ।
पर फल आने तक रह न सके वे मन में,
लाचार, बँधे-से गये राज्य-बन्धन में ॥

[६]

गमनोद्यत वे जिस समय हुए आश्रम से—
दोनों सखियों ने कहे वचन यों क्रम से—
"हे देव ! हमारे दोष न मन में लाना—
निज शकुन्तला को वहाँ भूल मत जाना" ॥

[७]

बोले नृप हँसकर—"ठीक कहा है तुमने,
फिर भी क्यों इतना कष्ट सहा है तुमने ?
कैसे हम मन में व्यर्थ दोष लाएँगे ?
जो मन में है, किस भाँति भूल जाएँगे ?"

[८]

तब शकुन्तला ने कहा, यह रस-मद-सा,
"प्राणेश्वर ! अब कब" कण्ठ हुआ गद्गद-सा ।
हो सका न पूरा वाक्य वेग के कारण,
हो गया असम्भव हाय ! धैर्य्य का धारण ॥

[९]

पोंछा उसका दृग-नीर स्वयं नृपवर ने,
जिसके प्रवाह में हृदय लगा था तरने।
निज-नामाङ्कित-मुद्रिका उसे पहनाई,
इस भाँति मिलन की अवधि विशेष बताई—

[१०]

"प्रतिदिन तू मेरा एक एक नामाक्षर—
गिनती रहना हे प्रिये! सु-निश्चय रखकर।
जब तक सब अक्षर धन्य गण्य हों तेरे—
लेने आवेंगे तुझे योग्य जन मेरे॥"

[११]

देकर प्रबोध यों प्राणप्रिया के उर को—
दुष्यन्त किसी विध गये हस्तिनापुर को!
पर शकुन्तला की गई न चिन्ता फिर भी,
वह ध्यान-मूर्ति-सी हुई मग्न अस्थिर भी॥

---

[१]

शान्ति-स्थान महान कण्व मुनि के पुण्याश्रमोद्यान में,
बाह्यज्ञान-विहीन, लीन अति ही दुष्यन्त के ध्यान में।
बैठा मौन शकुन्तला सहज थी सौन्दर्य्य से मोहती,
मानों होकर चित्र में खचित-सी थी चित्त को मोहती॥

[२]

ढाके भी प्रकृत स्वरूप उसका अप्राकृत श्रेष्ठ था,
लज्जा से मुख-चन्द्र देख उसका अम्भोज निश्चेष्ट था,
सूना होकर भी शरीर उसका आभूषणों से अहा!
सूना स्थान योग्य, दूषण बिना, सौन्दर्य्य था पा रहा॥

[३]

माथा और कपोलदेश पर से थे केश छूट पड़े,
हाँ लाल समीर से ललित थे वे दीखते थे बड़े—
श्रेणीबद्ध सुपाटलिन पर थे वे भृङ्ग मानों अड़े,
थे किंवा घन-वृन्द इन्दुवर को स्वच्छन्द घेरे खड़े॥

[४]

थे चाञ्चल्य विहीन लोचन खुले सौन्दर्य्य के मद्य यों—
पीते थे मकरन्द भृङ्ग सुख से पाके खिले पद्म ज्यों।
था एसा वपु वर्णनीय उसका स्वर्गीय शोभा-सना—
मानों लेकर सार भाग शशि का हो मार-द्वारा बना!

[५]

भोली सूरत थी रसार्द्र उसकी प्रेमाम्बु की वृष्टि मे,
हो ली सुन्दर रूप की चरम थी सीमा सभी सृष्टि मे।
थे स्वाभाविक भव्य भाव उसके, है वेश की क्या कथा ?
बैठी व्यस्त वसन्त के विरह मे हो वन्य-देवी यथा !

[६]

नाना दृश्य नये समक्ष उसके थे चित्तहारी वहीं—
आते थे पर लक्ष्य मे न उसके वे एक कोई कहीं।
थे सर्वत्र विशाल नेत्र उसके दुष्यन्त को देखते,
पाण्डु-ग्रस्त समस्त वस्तु जग मे ज्यों पीत ही लेखते ॥

[७]

छाई तत्र नितान्त शान्ति सहिता सर्वत्र ही क्षान्ति थी,
प्यारी कान्ति विलोक इन्द्र-वन की होती सदा भ्रान्ति थी।
क्रीड़ा मे वन-जीव थे रत सभी आनन्द से क्षेम से,
थे स्वच्छन्द जहाँ तहाँ उड़ रहे पक्षी बड़े प्रेम से ॥

[८]

पूरी निर्मल नीर से वह रही थी पास ही मालिनी,
वृक्षाली जिसके प्रतीर पर थी भूरि-प्रभा शालिनी।
लीला से लहरें अनेक उठती थीं लीन होतीं तथा—
मीनाक्षी सरिता कटाक्ष करती भ्रू-क्षेप से थी यथा !

[९]

नीलाकाश अपार ऊपर था फैला हुआ था वहाँ,
शस्यश्यामल निश्चलातल तथा था श्रेष्ठ नीचे पड़ा।
थोड़ा भी इनका परन्तु उसको था ध्यान होता वहीं,
चिन्ता युक्त पवित्र चित्त उसका अन्यत्र ही था कहीं।

[१०]

उस अद्भुत ध्यान के समय में, विख्यात क्रोधी महा—
दुर्वासा मुनिवर्य्य घोर गति से दैवात पधारे वहाँ।
तेजोवन्त शरीर उच्च उनका अत्यन्त ही कान्त था,
मार्तण्डोपम वक्त्रमण्डल तथा उद्दण्ड भी शान्त था॥

[११]

दीर्घश्मश्रु जटा-समेत उनके थे केश सारे सित,
होता था मुख दीप्तिमान उनसे यों सर्वदा शोभित।
होके मुक्त नितान्त मेघ-गण से वसन्त में ज्यों रवि—
पाता रश्मि-समूह संयुत सदा तेजोमयी है छवि॥

[१२]

होने से प्रिय-प्रेम-मुग्ध उनने आते न जाना उन्हें,
वैसी ही अतएव निश्चल रही माना न माना उन्हें।
चिन्ता से जिसको न आप अपने देहादि का ज्ञान हो—
क्या आश्चर्य, न और का यदि उसे आते हुए ध्यान हो?

[१३]

आया जान उन्हे, उसे पवन भी मानो जगाने लगी,
खींचा वस्त्र अनेक बार उसने, तो भी न बाला जगी।
थी प्यारे पति के समीप वह तो कैसे भला जागती ?
तन्द्रा निश्चल प्रेम की सहज ही बोलो, किसे त्यागती ?

[१४]

माना किन्तु महापमान जी मे उन्होने इसे,
क्रोधाधिक्य विचार युक्त रखता संसार मे है किसे ?
होते खिन्न कदापि वे न सहसा यों सोचते जो कही,
'होता है मन एक ही मनुज के दो चार होते नहीं' ॥

[१५]

होके रुष्ट अतः अतीव मन में पाके वृथा ताप वे,
कर्ण-क्रूर कठोर कण्ठ-रव से देने लगे शाप वे।
बोले शीघ्र पसार पाणि अपना, यों रूक्ष वाणी निरी—
ज्यों वाताहत मेघ से उपल की धारा धरा पै गिरी !

[१६]

"चिन्ता में जिसकी निमग्न रहके देखा न तूने मुझे;
स्वामी मैं तप का तथापि कुछ भी लेखा न तूने मुझे।
आवेगा तव-ध्यान ही न उसको, कोई कहे भी न क्यों;
पीछे पूर्व-कथा प्रमत्त जन को है याद आती न ज्यों ॥"

[१७]

या क्रोधान्ध, विचार-शून्य मुनि ने अत्युग्रता से कहा,
तो भी ध्यान हुआ न मङ्ग उसका सा पूर्व सा ही रहा,
वर्षा में प्रिय चन्द्र-दर्शन-रता होती चकोरी जहाँ—
मेघों की घोषणा तब उसे देती सुताइ कहाँ ।

[१८]

थी दोनों सखियाँ समीप वन में, उत्कुल्ल मालोपमा,
दौड़ीं वे सुन शाप और मुनि से माँगी उन्होंने क्षमा ।
होके शान्त किसी प्रकार तब वे बोले यही अन्त को—
"आवेगी सुध मुद्रिका निरख के उद्भ्रान्त दुष्यन्त को ॥"

——

विदा

[१]

शान्त हृदय वात्सल्य-करुण से सना हुआ है,
कण्व-तपोवन आज सदन-सा बना हुआ है !
शकुन्तला की विदा आज है प्रिय के घर को,
विदित हुआ सब वृत्त हर्षपूर्वक मुनिवर को ॥

[२]

वे पुत्री के लिए चाहते थे वर जैसा—
निज सुकृतों से स्वयं पा लिया उसने वैसा ।
यह विचार कर तुष्ट हुए वे अपने मन मे,
साज सजाये गये विदा के पावन वन मे ॥

[३]

शकुन्तला क्या जाय हाय ! वल्कल ही पहने ?
वन-देवो ने दिये उसे सुन्दर पट-गहने ।
सखियों ने शृङ्गार किया उसका मनमाना,
जिसको अन्तिम समझ बहुत कुछ उसने जाना ॥

[४]

प्रिय-दर्शन का उसे यदपि उत्साह बड़ा था,
पर स्वजनों का विरह-ताप भी बहुत कड़ा था ।
विकल हुई वह उभय ओर की बाधा सहती,
ऊपर-नीचे भूमि यथा आकर्षित रहती ॥

[५]

चारों ओर उदास भाव आश्रम में छाये,
सखियों के भी नेत्र आँसुओं से भर आये।
किन्तु उन्होंने कहा—"सखी! कुछ सोच न कीजो,
प्रिय को उनकी नाम मुद्रिका दिखला दीजो"॥

[६]

शकुन्तला कुछ कह न सकी गद्गद होने से,
था पवित्र कुछ और न उसके उस रोने से।
भावों जीवन प्रेम-पूर्ण हो खिल सकता है,
यह बिछुड़ा धन किन्तु कहाँ फिर मिल सकता है

[७]

त्यागी थे मुनि कण्व, उन्हें भी करुणा आई,
होती है सम सुता धरोहर, वस्तु पराई।
होम शिखा की परिक्रमा उससे करवाई,
और उन्होंने स्वस्ति गिरा यों उसे सुनाई—

[८]

"तुझको पति के यहाँ मिले सब भाँति प्रतिष्ठा,
ज्यों ययाति के यहाँ हुई पूजित शर्मिष्ठा।
सार्वभौम पुरु पुत्र हुआ था उसके जैसे—
तेरे भी कुल-दीप दिव्य औरस हों वैसे॥

[९]

"गुरुओं की सम्मान-सहित सुश्रुषा करियो,
सखी-भाव से हृदय सदा सौतों का हरियो।
करे यदपि अपमान, मान मत कीजो पति से,
हूजो अति सन्तुष्ट स्वल्प भी उसकी रति से॥

[१०]

परिजन को अनुकूल आचरण से सुख दीजो,
कभी भूल कर बड़े भाग्य पर गर्व न कीजो॥
इसी चाल से स्त्रियाँ सुगृहिणी-पद पाती हैं,
उलटी चलकर वंश-व्याधियाँ कहलाती हैं॥

[११]

"शकुन्तले! निश्चन्त आज हूँ यद्यपि तुझसे,
सहा न जाता किन्तु विरह यह तेरा मुझसे।
अहो! गृहस्थ समान मानता हूँ अपने को!
सन्यासी मैं आज जानता हूँ सपने को!

[१२]

"सुते! तव-स्मृति-चिन्ह तपोवन में बहुतेरे—
देते थे जो महामोद मानस में मेरे।
उदासीनता बढ़ा रहे हैं आज सभी ये,
सुख के सुख होगये दृश्य सब अभी अभी ये!

[१३]

"सारा आश्रम आज शून्यता दिखलाता है,
वन से भी वैराग्य-भाव बढ़ता जाता है।
वनचरी-सा कौन विपिन में अब विचरेगी ?
मृग सन्तति अब किसे घेर कर खेल करेगी ?

[१४]

"कौन मालिनी-तीर नीर लेने जावेगी ?
कौन मछलियाँ चुगा चुगा कर सुख पावेगी ?
कौन प्रेम से पुष्प-वाटिका को सींचेगी ?
कौन अचानक सखीजनों के दृग मींचेगी ?

[१५]

"कौन दौड़ कर शीघ्र—उठाने को हीरे से—
नीड-च्युत खग पात सँभालेगी धीरे से ?
रङ्ग रङ्ग के वन विहङ्ग पेड़ों से उड़ कर—
बोलेंगे मृदु वचन बैठ किसके अङ्कों पर ?

[१६]

"बिना कहे ही कौन अखिल आलसता त्यागे—
रक्खेगी होमोपकरण वेदी के आगे ?
मेरे पथ के कौन कास-कण्टक चुन लेगी ?
कौन उचित आतिथ्य अतिथि लोगों को देगी ?

[१७]

"वेदी खुदती देख हरिण शृङ्गों के मारे—
'बेटी' कह कर किसे बुलाऊँगा मैं द्वारे ?
किसको आया देख शान्त वे हो जावेंगे ?
अपनी खोई हुई सम्पदा सी पावेंगे ॥

[१८]

"जाने दूँ, यह विषय और भी है दुखदायी;
सुते ! धैर्य्य धर, बने मार्ग तेरा सुखदायी ॥
मेरा वह उपदेश कभी तू भूल न जाना,
शील-सुधा से सींच जगत को स्वर्ग बनाना ॥"

[१९]

यों कहकर जब मौन हुए मुनि सकरुण होकर—
शकुन्तला गिर पड़ी पदों में उनके रो कर ।
"होंगे कब हे तात, तपोवन के दर्शन फिर ?"
इतना कह कर हुई दुःख से वह अति अस्थिर ॥

[२०]

"रह कर चिरदिन भूमि सपत्नी, नृप की रानी,
रुके न जिसका मार्ग पुत्र पाकर कुल्मानी ।
करके उसका ब्याह, राज्य सिंहासन देकर—
आवेगी पति सङ्ग यहाँ फिर तू यश लेकर ॥

[२१]

"जब तू प्रिय के यहाँ सुगृहिणी पद पावेगी,
गुरु कार्यों में लीन सदा सुख सरसावेगी।
रवि को प्राची-सदृश श्रेष्ठ सुत उपजावेगी,
तब यह मेरा विरह-दुःख सब बिसरावेगी॥'

[२२]

यों ही बहुविध उस कण्व मुनि ने समझाया,
विदा किया, दो शिष्यवरों को सङ्ग पठाया।
वह गौरवती तपस्विनी सी पहुँचाने को—
उसका शुभ सौभाग्य देखकर सुख पाने को॥

[२३]

शकुन्तला घर गई, विपिन को सूना कर के,
दोनों सखियाँ फिरीं किसी विध धीरज धरके।
मोरों ने निज नृत्य, मृगों ने चरना छोड़ा,
हिमगिरि ने भी वाष्प-वारि-सम झरना छोड़ा।

त्याग

[१]

पहुँची शकुन्तला जब प्रिय के निकट हस्तिनापुर में,
उठने लगीं भावनाये तब बहुविध उससे उर मे—
"देखूँ आर्य्यपुत्र अब मुझ से मिलकर क्या कहते है ?
हृदय ! न शङ्कित हो, तुझ पर वे सदा सदय रहते है ॥"

[२]

किन्तु सदय होकर भी प्रिय ने निर्दयता दिखलाई;
हाय ! शाप-वश दुर्वासा के, सुध न प्रिया की आई।
तो भी उचित समादर नृप से मुनि-शिष्यो ने पाया,
कुशल-प्रश्न हो जाने पर यो गुरु-सन्देश सुनाया—

[३]

"तुमने जो मेरी बेटी का पाणिग्रहण किया है—
उसको हर्ष और सुखपूर्वक मैंने मान लिया है।
शकुन्तला सत्क्रिया-मूर्ति है, तुम सज्जन गुणशाली;
मिटी आज विधि की वह निन्दा अनमिल जोड़ीवाली ॥

[४]

"हमें तपस्वी जान और निज कुल भी श्रेष्ठ समझकर—
स्वजनोपाय विना ही तुमने प्रेम किया जो इस पर।
सो तुम सभी रानियों के सम इसे मानते रहना,
भाग्याधीनविशेष भाव पर उचित नहीं कुछ कहना ॥"

[५]

यों कह कर मुनि शिष्य हुए जब मौन नृपति के आगे,
तब विस्मय के भाव शाप-वश उनके मन में जागे।
सचकित-से-"यह क्या रहस्य है ?"-यही वचन वे बोले,
शकुन्तला-नलिनी पर माना पड़ अचानक ओले !

[६]

कहा शार्ङ्गरव ने तब-"यह क्या ? नृप ! तुम यह क्या कहते
शङ्कनीय होती सतियाँ भी पिता गेह में रहते।
अतः बन्धुजन यही चाहते-लोकाचार समझ कर-
पति के स्नेह बिना भी प्रमदा स्त्रियाँ रहें प्रिय के घर॥'

[७]

कहा भूप ने तब-"क्या मेरा ब्याह हुआ था इससे ?
हा ! अब क्या था, शकुन्तला को आशा रहती जिससे
पर बोली गौमती कि "वत्स ! अब लज्जा मत मानें,
ला घूँघट खोलूँ मैं, जिससे तुमको पति पहिचानें॥

[८]

अहा ! चन्द्र-सा निकला घन से, फैल गया उजियाला,
शाप-विवश भी नृप के मन पर पड़ा प्रभाव निराला !
त्याग और स्वीकार न कुछ भी किया गया नरवर से,
ओस भरे कल-कुन्द-कुसुम के वे हो गये भ्रमर-से।

[९]

लज्जा की लाली फैली थी भौंहें तनिक चढ़ी थीं,
ग्रीवा नीची थी पर आँखें नृप की ओर बढ़ी थीं।
कहती थीं मानो वे उनसे—क्या हमको छोड़ोगे ?
आर्य्यपुत्र ! दो दिन पीछे ही क्या यों मुँह मोड़ोगे ?

[१०]

चित्र लिखे-से रहे देखते नृप दोनों दृग खोले,
कहने पर फिर मुनि-शिष्यों के धीरे धीरे बोले—
"याद नहीं आता है इसके साथ व्याह का होना,
हे ऋषियो ! फिर समुचित है क्या मुझे धर्म का खोना?"

[११]

अपने कर की ओर दृष्टि तब शकुन्तला ने डाली,
पर अभाग्य ! सूनी थी अँगुली नाम मुद्रिका वाली।
विपदा पड़ने पर ऐसा ही होता है भूतल में,
पथ में तीर्थाचमन-समय थी गिरी अँगूठी जल में॥

[१२]

जिसने प्रकट देखने पर भी तनिक नहीं पहिचाना,
निष्फल ही है निश्चय उसको अपनी याद दिलाना।
पर अपने लोकापवाद की मन में चिन्ता कर के—
बोली किसी तरह यह प्रिय से ज्यों त्यों धीरज धर के—

[१३]

"पिया न था उस दिन जब मेरे मृग ने तुमसे पानी,
मुझसे पीने पर तब तुमने थी यह बात बखानी—
"सचमुच सब कोई सहवासी को ही पतियाता है,
लता-कुञ्ज की इस घटना का ध्यान तुम्हें आता है?

[१४]

बोले नृप—"होता है यों ही विषयिजनों का मरना,
मुझे मन्थरा चाहता है क्या तू या दूषित करना?
मर्यादा को छोड़ नदी जो है तट विटप गिराती—
वह अपना पानी बिगाड़ कर छवि गंदा हो जाती॥"

[१५]

ऐसे परुष वचन सुन पति के क्षुब्ध हुई वह बाला,
भ्रू भंगिमा से उसने स्मर का सा चाप भङ्ग कर डाला।
देख अकृत्रिम भाव भूप का लगे सोचने कारण,
मुनि शिष्या ने कहा अन्त में कर निज कोप निवारण—

[१६]

"प्रथम परीक्षा किये बिना जो प्रेम किया जाता है—
ठीक है कि वह वैर भाव ही पीछे प्रकटाता है।
जो हो, नृप! तू इसका पति है, यह है तेरी नारी,
इसे छोड़ने या रखने का है तू ही अधिकारी॥"

[१७]

कह कर यों मुनि-शिष्य वहाँ से विदा हुए आश्रम को;
शकुन्तला क्या करे ? कोसने लगी दैव के क्रम को;
रोती रोती चली उन्हीं के पीछे वह बेचारी,
भ्रम-वश भी भूपति के मन में उपजी ममता भारी ।

[१८]

कहा लौट कर ऋषियों ने-"यदि सच है नृप का कहना—
तो कैसे सम्भव है तेरा पिता-गेह में रहना ?
और आत्म-शुचिता पर तेरा मन, यदि है विश्वासी—
तो पति-गृह में ही निवास कर बन कर भी तू दासी ।"

[१९]

चले गये मुनि-शिष्य गौतमी-सहित वहाँ से वन को,
मर्मान्तक दुख हुआ गर्भिणी शकुन्तला के मन को ।
अपने हतविधि की ही निन्दा की उसने रो रो कर,
सतियाँ पति को नहीं कोसतीं परित्यक्त भी होकर ॥

[२०]

यही कहा उसने कि—"कहो अब मैं अभागिनी जाऊँ ?
माँ धरणी ! तू मुझे ठौर दे, तुझ में अभी समाऊँ ।"
प्रभामयी मेनका उसे तब उड़ा ले गई आकर—
और कश्यपाश्रम में रक्खा हेमकूट पर जाकर ॥

---

[१]

नृप-नाम-मुद्रिका जो जल-मध्य जा गिरी थी—
जिससे शकुन्तला पर दुख का घटा घिरी था।
पाई गई अनन्तर वह मीन के उदर में,
होकर पुन प्रकाशित पहुँची महीप-कर में॥

[२]

पाकर उसे अचानक झट नाग-से पड़े वे,
सुध आ गई प्रिया की, व्याकुल हुए बड़े वे।
तत्क्षण शकुन्तला का वह त्याग याद आया,
आम्भार शोक छाया अनुराग याद आया॥

[३]

धिक्कारने लगे तब सब भाँति आप को वे।
सहने लगे विवश हो अनुताप-ताप को वे।
सम्राट भाव में भी अति दीन-से हुए वे,
वीराग्रणी, बली भी गति-हीन-से हुए वे।

[४]

"मृगलोचनी प्रिया ने था जब तुझे जगाया—
जागा न, आप ही यों हा! आप को ठगाया।
सब दुःख भोगने का जागा सुयोग सूकर,
फटता नहीं हृदय! तू फिर भी विदीर्ण होकर।

[५]

था स्वप्न या मति-भ्रम, माया कि हाय छल था;
या दृश्यमान मेरा वह अल्प पुण्य-फल था ?
उसके पुनर्मिलन की अब है मुझे न आशा,
डूबी अथाह जल में मेरी मनोभिलाषा !

[६]

थी सामने प्रिया जब देखा नहीं उसे तब,
आँसू बहा रहे हैं उसके लिये वृथा अब।
धिक्, ढोंग कर रहे हैं अब व्यर्थ ही विलोचन,
हा ! किस प्रकार होगा मेरा कलङ्क-मोचन ?

[७]

सर्वस्व मान कर भी मैंने जिसे हटाया,
जो थी अभिन्न उसका गौरव स्वयं घटाया।
हा ! कौन जन करेगा विश्वास और मेरा ?
अपयश अवश्य होगा अब ठौर ठौर मेरा ॥

[८]

जिस देव-दुर्लभा ने तन, मन मुझे दिया था,
सौभाग्य मान मैंने स्वीकृत जिसे किया था।
त्यागा उसे अचानक मैंने तनिक न चाहा,
होकर कुलीन मैंने अच्छा नियम निबाहा !

[९]

रक्खा इधर प्रिया को मैंने न जब हुड़क कर,
त्या छोड़ कर चले जब मुनि-शिष्य भी घुड़क कर।
तब दृष्टि हाय! उसने जो अश्रुपूर्ण डाली—
वह डस रही मुझे है बन कर कराल व्याली॥

[१०]

जो थी कुल प्रतिष्ठा, निष्पाप धर्म जाया,
मैं पुत्र रूप में था जिसमें स्वयं समाया।
मुझ मूढ़ ने उसे हा! त्यागा तथापि ऐसे—
छोड़ सफल धरा को बाकर किसान जैसे!

[११]

शुचि सौम्य मूर्ति वैसी विधि ने रची न होगी,
पर इस विपत्ति से वह जाती बची न होगी।
कैसा नृशंस हूँ मैं निज वंश-मूल-घाती,
तड़पते हुये प्रिया को मेरी फटी न छाती॥

[१२]

वह एक साधना भी निकली नितान्त झूठी,
कर छोड़ कर प्रिया का जल में गिरी अँगूठी!
जड़ थी परन्तु वह तो रखती कहाँ विवेचन?
मैंने उसे छला क्यों होकर सचेत, चेतन?"

[१३]

यों ही विलाप करके थे नृप अचेत होते,
चैतन्यलाभ मे फिर थे पूर्व-तुल्य रोते ।
वे स्वप्न का मिलन भी निद्रा बिना न पाते,
जो चित्र देखते तो थे अश्रु विघ्न लाते !

[१४]

उद्यान मे कभी वे उन्मत्त से विचरते,
करके स्मरण प्रिया का बहुविध विलाप करते ।
बस देख कर लताएँ उसके समान कुछ कुछ—
करते विलोचनो को सन्तोष-दान कुछ कुछ ॥

[१५]

माढव्य जो सखा था वह साथ साथ रहता,
बहु भाँति सान्त्वना के अनुकूल वाक्य कहता।
उनका यही कथन था—"हे मित्र क्या करूँ मैं ?
ऐसे अनर्थ मे हा ! अब धैर्य क्या धरूँ मैं ?"

[१६]

सन्देह था कि प्यारी जीती रही न होगी,
हा ! कौन जी सकेगा ऐसा विपत्ति-भोगी ?
पर कुछ सुराङ्गनाएँ उसको जिला रही थीं—
पिय की दशा सुना कर धीरज दिला रही थीं ॥

[१]

ध्यान कर करके प्रिया के त्याग का—
और उसके शील का, अनुराग का ।
नृप निरन्तर व्यग्र ही रहने लगे,
जो न सहने योग्य था सहने लगे ॥

[२]

सोच कर वह पूर्व की घटना सभी—
आत्मनिन्दा आप ही करते कभी ।
रख प्रिया का चित्र जब तब सामने—
देखते वे आप भी प्रतिमा बने ॥

[३]

सुध न थी सुख-सान-बान कहाँ गया,
और तो क्या राज-काज कहाँ गया ।
खान-पान कहाँ कि रुचि जाती रही,
सब गया बस याद ही आता रही ॥

[४]

कार्य्य सम्मति-योग्य जो होते कहीं—
सचिव-गण लिख भेजते उनको वहीं ।
कर किसी विध चित्त संयत उस समय—
वाच्य हो आज्ञा देते धैर्य्य मय ॥

[५]

एक दिन संवाद आया यह नया—
"वणिक कोई डूब वारिधि मे गया।
धन बहुत पर सुत-रहित आगार है,
अस्तु उस पर राज्य का अधिकार है॥"

[६]

सोचकर मन मे, कहा तब भूप ने,
(धर्म्मधारी न्याय के नर-रूप ने।)
"गर्भिणी यदि हो वणिग्गृहणी कहीं ?
पूछ कर देखो कि वह है या नहीं ?"

[७]

गर्भिणी निकली वणिग्गृहणी सही,
तुष्ट होकर तब कहा नृप ने यही—
"ठीक है तो और कौन विचार है ?
पित्र्य धन पर गर्भ का अधिकार है॥"

[८]

न्याय मे यद्यपि न कुछ संशय रहा—
किन्तु फिर तत्काल ही नृप ने कहा—
"यह नहीं, सन्तान हो अथवा न हो,
घोषणा के रूप में सब से कहो—

[९]

"पापिया को छोड़ कर, सुन लें सभी,
जिस स्वजन का हो वियोग जिसे कभी।
वह प्रजा दुष्यन्त को जाने वही,
और उसके स्थान में माने वही॥

[१०]

घोषणा सर्वत्र यह कर दी गई,
सब प्रजा में प्रीति सी भर दी गई।
पर हुई गति और ही नृप चित्त का,
सोच कर घटना वणिक के वित्त की॥

[११]

"एक दिन पुरुवंश का भी सम्पन्न—
(वृद्धिशील जो रही अब तक सदा।)
मुझ बिना या हो पड़ी रह जायगी,
कौन जाने काम, किसके आयगी॥

[१२]

"धिक मुझे है प्राप्त सुत जो तज दिया,
आप ही अपकार पितरों का किया।
त्याग दी मैंने स्वगृहिणीगुणवती—
रमणी, कुलरमणी, रमणी, सती।

[१३]

"पितर जितने हैं न होगी कल उन्हें,
कौन मेरे बाद देगा जल उन्हें ?
आज भी हा ! हा ! सलिल मेरा दिया—
आँसुओं के साथ जाता है पिया !

[१४]

"हा ! गया मैं लोक से, परलोक से,"
नृप हुए यों कह विमोहित शोक से ।
सजग होने पर हुई चिन्ता नई,
आर्तवाणी सुन पड़ी करुणामयी ॥

[१५]

कण्ठ था माढव्य का करुणा-भरा—
'दौड़ियो रक्षार्थ कोई, मैं मरा ।'
व्यग्र हो देखा नृपति ने चौंक कर,
पर न दिखलाई दिया कोई उधर ॥

[१६]

सुन पड़ा फिर कण्ठ-रव उनको नया—
'अब कहो दुष्यन्त नृप वह है गया ?
वह अभयदानत्व उनका है कहाँ ?
मारता हूँ देख मैं तुझको यहाँ !'

[१७]

धनुष लेकर क्रोध से नृप ने कहा—
'हैं, मुझे भी यह चिनौती दे रहा !
शठ ! भले ही तू न दीख पड़े मुझे—
देख लेगा किन्तु मेरा शर तुझे ॥

[१८]

छोड़ना न परन्तु उनको शर पड़ा,
सामने आकर हुआ मातलि खड़ा !
और बोला वह सहर्ष महाप से,
(एक धन्वी, धीर, पुरुकुल-दीप से ।)

[१९]

"इन्द्र ने हैं दैत्य-गण निगला दिये,
छोड़ना ये शर उन्हीं पर चाहिए ।
सुजन सुहृदा पर न शस्त्र सँभालते,
प्रेम की ही दृष्टि उन पर डालते ॥

[२०]

"आपको उत्तेजना हो इसलिये—
खेल ये माढव्य से मैंने किये ।
क्रोध में हो प्रकट होता सर्प है,
गरजता छेड़ बिना कब सर्प है ?

[२१]

भूप ने आदर किया सुर-सूत का,
कार्य्य फिर उससे सुना पुरुहूत का।
'कालिनेमि कुलस्थ एक अदेव गण—
कर रहा है देव-कुल से घोर रण॥

[२२]

'शक्र जीत सके न पाप-कलाप को,
कर रहे है याद इससे आपको।
दूर कर सकता नहीं रवि नैश तम,
पर मिटा देता उसे विधु एक दम॥'

[२३]

नृप हुए सन्तुष्ट इस उत्कर्ष से,
दिव्य रथ पर चढ़ चले वे हर्ष से।
प्रबल भाव सदैव ही प्रतिपक्ष का—
है प्रवर्द्धक वीर जन के वक्ष का॥

[illegible] "[illegible]-भवन"
[illegible]।

मिलन

[१]

मिली जय-श्री यद्यपि असुर संग्राम में,
शकुन्तला ही रही किन्तु इहाम में।
मिली न नृप को शान्ति, दैव का दोष था,
दैव-कार्य कर सके यही सन्तोष था॥

[२]

निज सम्मान सम्मान अमरपति ने दिया,
निज रथ में बैठाल विदा उनको किया।
चले जाते हुए भूप सुरलोक को,
मुड़े वे उस समय हृदय के शोक को॥

[३]

चित्त हरा हो गया देख नभ का छटा,
घूम रही थी कहीं मनोरम घन घटा।
परिमल से सुरभित कहीं थी बह रही,
मृदु कलरव में मर्म्म कथा था कह रही॥

[४]

कलाओं ने अनुराग में सुर कहीं—
खिलते हुए स्वगीत दृष्टि आये वहीं।
अपना यशोविशद स्वर्ग तक देख के—
हुआ उन्हें सन्तोष भाग्य ही लेख के॥

[५]

जाते करते हुए शक्र के सूत से,
नीचे आते हुए व्योम-पथ पूत से।
दीख पड़ा भू-लोक उन्हें बढ़ता हुआ,
मानो उनकी ओर आप बढ़ता हुआ।

[६]

पूर्व और पश्चिम-समुद्र-मध्यस्थ-सम—
हेमकूट ही उन्हें दृष्टि आया प्रथम।
सान्ध्यमेघ की अमल अर्गला-सी भली—
फैल रही थी जहाँ कनक-रेखावली॥

[७]

अदिति-सहित मारीचि वहीं दिव्यात थे,
जो ब्रह्मा के पौत्र, सुरासुर-तात थे,
पुण्याश्रम था तपःपूर्ण उनका वहीं,
वैसा शान्ति-स्थान स्वर्ग भी था नहीं॥

[८]

करते थे तप वहीं तपस्वी जन बड़े;
अचल स्थाणु-समान सूर्य-सम्मुख खड़े।
जटा जूट थे नीड़ खगों के बन गये,
दृश्य विलोकन सभी वहाँ पर थे नये॥

[९]

और वहाँ क्या था कि भूप को इष्ट हो ?
वर्णन जिसका तथा यहाँ अवशिष्ट हो ?
और वहाँ था शकुन्तला सुमुखी वही—
नृप को जिसके बिना शून्य थी सब मही ॥

[१०]

शकुन्तला का वहाँ कौन आधार था ?
सर्वदमन सुत जो कि हृदय का सार था ।
सर्वदमन के लिए धन्य पशु-वर्ग था,
जिनसे क्रीडित उसे तुच्छ सा स्वर्ग था ॥

[११]

किन्तु भूप का हाय ! न यह कुछ ज्ञात था,
कश्यप-दर्शन-योग मात्र प्रतिभात था ।
उतरे वे तब वहाँ राज-मद से रहित—
और चले रथ छोड़ स्वयं मातलि-सहित ॥

[१२]

बोला मातलि तनिक दूर चलकर वहाँ—
"इस अशोक के तले आप ठहरें यहाँ ।
तब तक अवसर देख शीघ्र करके नमन—
इन्द्र पिता से कहूँ आपका आगमन ।"

[१३]

उतर गये नृप वहीं विटप की छाँह में,
हुआ विस्फुरण शकुन-रूप वर बाह में।
यदि आगया कण्व-तपोवन फिर अहा !
लेकर एक उसाँस उन्होंने यों कहा—

[१४]

"आशा भी अब सिद्ध मनोरथ की कहाँ ?
फड़क रहा फिर व्यर्थ अरे भुज क्यों यहाँ ?
पूर्वापेक्षित सौख्य दुःख बनता अहो !
करने को उपहास अग्रसर तू न हो।

[१५]

यों कहते सुन पड़ी गिरा उनको वहीं—
'नहीं वत्स ! यह कार्य्य उचित तेरा नहीं।'
चौंक पड़े वे समझ स्व-वाक्य-विरोध-सा,
हुआ सामने देख दिव्य सुख-बोध-सा॥

[१६]

दो तपस्विनी स्त्रियाँ जिसे समझा रहीं—
(नहीं वत्स, यह उचित कार्य्य तेरा नहीं।)
दीखा शिशुवर एक सिंह को पीटता—
मातृ-स्तन से उसे सवेग घसीटता !

[१७]

खिला हुआ मुख-कञ्ज मञ्जु दशनावली,
अरुण अधर, कलकण्ठ तोतली काकली।
कोमल केश-कलाप, धन्य विधि-चातुरी,
मुग्ध हुए नृप देख बाल छवि-माधुरी॥

[१८]

धारे अनुपम चक्रवर्ति-चिह्नावली,
कश्यप-कृत संस्कार, सार्थनामा, बली।
था वह बालक सर्वदमन नामक वही—
पाकर जिसको शकुन्तला थी जी रही॥

[१९]

मूर्तिमान क्या तेज तपोवन का हुआ।
कुछ विचित्र ही भाव भूप मन का हुआ।
लेकर फिर निश्वास उन्होंने था कहा—
"किस सुकृती का पुत्र रत्न यह है अहा।

[२०]

अरे हृदय! जो लता उखाड़ी जा चुकी—
और उपेक्षा-ताप कभी का पा चुकी।
आशा क्या कर-रहा उसी के फूल की?
फल से पहले बात सोच तू मूल की॥

[२१]

लेकर ऐसा गेह-रत्न जो गोद मे—
करते हैं निज अङ्ग धूसरित मोद मे।
हैं वे ही जन धन्य धरा पर सर्वथा,
पर तेरा यह लोभ हाय अब है वृथा॥"

[२२]

सर्वदमन ने कहा उधर रस घोल के—
"सिंह! मुझे तू दाँत गिना, मुँह खोल के।"
यों कह वह तेजसी हुआ हर्षित बड़ा,
इन्धनार्थ अङ्गार सजग मानों खड़ा!

[२३]

मातृ रूपिणी तपस्विनी ने फिर कहा—
"रे उद्धत! यह क्या अनर्थ तू कर रहा?
हम तो इन पर पुत्र-तुल्य रखतीं दया,
सर्वदमन तव नाम ठीक रक्खा गया॥

[२४]

"छोड़ेगा यदि तू न इसे हठ-रोष से,
झपटेगी तो अभी सिंहनी रोष से।"
सर्वदमन ने कहा मुँह बना—"क्यों नहीं—
डरता जो हूँ सिंह देख मैं भय कहीं!"

[२५]

जड़ीभूत-से मुग्ध देखते नृप रहे,
मृदुल वचन फिर तपस्विनी ने या कहे—
"वत्स छोड़ दे इसे, तरस आता मुझे,
दूँगी कोई और खिलौना मैं तुझे ॥"

[२६]

एक तापसी गई खिलौने के लिए,
बोला बालक सिंह-केश-कर्षण किए—
"रहूँ तब तक इसी सिंह से मैं यहाँ,"
यों कह कर वह हँसा मोद पूर्वक वहाँ ॥

[२७]

बोला तब वह तपस्विनी नरपाल से—
"भद्र! बचाओ इन तुम्हीं इस बाल से।
समझाकर तब सर्वदमन को नीति से,
बोले उसका हाथ पकड़ नृप प्रीति से—

[२८]

"एक बार इस किसी धन्य कुल-धन्य को—
छूकर इतना हर्ष हुआ मुझ अन्य को।
होता होगा हर्ष उसे कितना बड़ा—
यह जिसके अङ्कस्थ हुआ इतना बड़ा!"

[२९]

पस्विनी ने कहा कि "यह पुरु-वंश है—
तब तो इतना अभी तेज का अंश है।
इसका मुख किन्तु तुम्हारा-सा अहा !
और मान भी गया तुम्हारा यह कहा !"

[३०]

सुन निज कुल का नाम भूप शङ्कित हुए,
मन मे बहु विध तर्क-भाव अङ्कित हुए।
र बोले वे प्रकट तापसी से वहाँ—
"आ सकता है मनुज आप कैसे यहाँ ?"

[३१]

बोली फिर वह तपस्विनी ममतायुता—
'है इसकी माँ किन्तु मेनका का सुता।'
आशा पूर्वक पुनः प्रश्न नृप ने किया
"है वह किस राजर्षि वीरवर की पिया ?"

[३२]

"शकुन्तला-सी एक सती सहधर्मिणी—
त्यागी जिसने स्वयं; जो कि थी गर्भिणी।
उसका सुत भी नाम जाय कैसे लिया ?"
साफ़ साफ़ उस तपस्विनी ने कह दिया॥

[३३]

'मैं हा हूँ पर महानिन्द्य, अविनीत हा !
होगा मुझ सा और कौन अपनीत हा !'
या कहकर दुष्यन्त यहीं पर गिर पड़,
रह सकता था मगर कभी वे स्थिर खड़ ?

[३४]

था यह भी सौभाग्य किन्तु उनके लिए,
विधि ने फिर था सुदिन पर उनके दिये।
प्राप्त किया जब चेत उन्होंने, मोद में—
पाया निज को शकुन्तला की गोद में !

[३५]

"मिटा मोह तम, आज मिले मन मुझ मुझे,
धन्य भाग्य जो सुमुखि ! देखता हूँ तुझे।
मिट जाने पर ग्रहण-रूप विधु की व्यथा—
मिल जाता है उसे रोहिणी फिर यथा ॥

[३६]

शकुन्तला को ज्ञान न अपना भी रहा,
"आर्य्यपुत्र की —यही मात्र उसने कहा।
'जय हो' निकला नहीं, गिरा की गति रुकी,
बोले नृप "वह मुझे प्रथम ही मिल चुकी ॥"

[३७]

"व्रत करने से बढ़ी अङ्ग-कृशता बड़ी,
सिर पर उलझी हुई एक वेणी पड़ी ।
धूल भरे तनु-वस्त्र मलिन से हो रहे,
तू ने मेरे लिए हाय ! ये दुख सहे ?

[३८]

भूल प्रिये, अपमान, मुझे था भ्रम हुआ;
किसी पाप-वश महामोह का तम हुआ ।
मुझे क्षमा कर सुतनु ! दया का दान कर,
हार फेकता अन्ध भुजङ्गम जान कर !"

[३९]

पैरों पर गिर पड़े प्रिया के भूपवर,
शकुन्तला ने कहा क्षमा का रूप धर—
"उठो नाथ ! वह कुछ न तुम्हारा दोष था,
मुझ पर ही अज्ञात दैव का रोष था ॥"

[४०]

इसी समय पुरुहूत-सूत आया वहाँ,
एक अपूर्वानन्द-भाव छाया वहाँ ।
कश्यप-दर्शन किये सभी ने फिर वहाँ,
मनमाने पर लिए सभी ने फिर वहाँ ॥

[४१]

दुर्वासा का शाप भेद भी खुल गया—
अत मोनमालिन्य भूप का धुल गया।
आय पत्नी, पुत्र सहित जब गेह वे,
बने शान्ति, सुख और स्वय सुस्नेह वे॥

[४२]

सर्वदमन न जीत अन्त में सब मही—
प्रजा भरण स 'भरत' नाम पाया सही।
भारत भारत बना उन्हीं के नाम स,
अमर हुआ या कौन गुणो क धाम स?

[४३]

भारत! अब वह समय तुम्हें क्या याद है?
होता उसका कभी महत्व विषाद है?
न दिन अब क्या तुम्हें मिलेंगे फिर अहो!
इसका उत्तर और कौन देगा कहो।

[illegible] भूषण
सेठिया [illegible], बीकानेर।

हिन्दी के ख्यातनामा कवि
श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त कृत नवीन काव्य—

हिन्दू

गुप्तजी का भारत-भारती नामक प्रसिद्ध राष्ट्रीय काव्य हिन्दी भाषा-भाषियों ने बड़े प्रेम और आदर के साथ अपनाया है। उन्हीं की ज़ोरदार लेखनी से यह "हिन्दू" नामक काव्य लिखा गया है। इसमें हिन्दुओं को उठ खड़े होने के लिए जो उत्तेजन दिया गया है वह बहुत प्रभाव-शाली है। पुस्तक के अन्त में कुछ गीत दिए गये हैं, वे भी भाव, भाषा और ओज में अतुलनीय हैं। उत्सव, संकीर्तन, और सभा आदि सामूहिक कार्यों में इन गीतों के द्वारा एक नई ही बात पैदा हो सकती है। यह काव्य हिन्दुओं की दुर्बलता दूर करने के लिए,—उन्हें फिर से सशक्त और संगठित करने के लिए—बहुत बड़ी सहायता देगा। हिन्दुओं के संगठन के लिए आज तक जितनी भी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं उन सबमें इस ग्रन्थ का आसन बहुत ऊँचा है। जो गुप्तजी की चमत्कारिणी लेखनी से परिचित हैं उनसे इसके विषय में कुछ कहना ही व्यर्थ है। आप स्वयं उसे पढ़िए और अपने इष्ट मित्रों में इसका प्रचार कीजिए। इस वाणी का जितना अधिक प्रचार होगा, देश और हिन्दू जाति का उतना ही अधिक उपकार होगा।

पुस्तक नेशनल साइज में है। पृष्ठ-संख्या भी ३७५ से अधिक है। मूल्य सजिल्द १) विशिष्ट संस्करण १।)

पता—प्रबन्धक,
साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी)

मेघनाद वध

आधुनिक समय के भारतीय सफल साहित्यकों में से बंगाल के महाकवि माइकल मधुसूदन दत्त का नाम बहुत प्रसिद्ध है। उन्हीं के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य "मेघनाद-वध" का यह हिन्दी पद्यानुवाद हिन्दी के लिए गौरव की वस्तु है। इसके विषय में आचार्य पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी लिखते हैं—

"मेघनाद वध का कुछ अंश छपा हुआ मैं पहले भी देख चुका हूँ। कल दिन भर उसकी सैर की। बड़ा आनन्द आया। मूल मेरा पढ़ा हुआ है, उसकी अपेक्षा मुझे यह अनुवाद अधिक पसन्द आया। ओज की यथेष्ट रक्षा हुई है, शब्द-योजना का क्या कहना है।

सुप्रसिद्ध बङ्गाला विद्वान्,
मूल मेघनाद-वध महाकाव्य के प्रतिष्ठित टीकाकार,
श्रीज्ञानेन्द्रमोहनदास की सम्मति का सारांश—

"अनुवादक कवि इस क्षेत्र में निस्सन्देह पहले व्यक्ति हैं। उन्होंने बँगला के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य का हिन्दी कविता में विशुद्ध पूर्ण और अविकल अनुवाद करके हिन्दी-संसार में एक नवीन कार्य किया है। उनकी सर्वतोमुखी लेखनी ने बँगला और संस्कृत भाषा से विभूषित होकर जो सफलता प्राप्त की है वह हमारी बधाई और अपरिसीम प्रशंसा का पात्र है। उनकी विरहिणी ब्रजाङ्गना सङ्गीत और भाषा सौष्ठव की दृष्टि से मूल की भाँति ही मधुर और निर्दोष है। उनका वीराङ्गना और मेघनाद-वध नामक बँगला काव्यों का मिलान की जोड़ का ओज पूर्ण और यथावत् हिन्दी अनुवाद हिन्दी-संसार के लिये एक अभावनीय वस्तु है। उसमें उन्हें आश्चर्यजनक सफलता मिली है।'

पृष्ठ संख्या ५२५ और सुवर्णवर्णांकित सुन्दर
रेशमी जिल्द युक्त मूल्य ३॥)

वीराङ्गना

यह भी मधुसूदनदत्त के "वीराङ्गना" नामक बँगला काव्य का हिन्दी-पद्यानुवाद है। इस काव्य में भी "मेघनाद-वध" महाकाव्य के अनेक गुण हैं। सुन्दर रेशमी जिल्द। मूल्य १)

विरहिणी व्रजाङ्गना

बंगाल के महाकवि मधुसूदनदत्त के "व्रजाङ्गना" नामक काव्य का सुन्दर पद्यानुवाद। विरहिणी राधिका के मनोभावों का इसमें बड़ा ही हृदय-ग्राही वर्णन है। चतुर्थ संस्करण। मूल्य ।)

स्वदेश-सङ्गीत

इसमें गुप्तजी की लिखी हुई भिन्न भिन्न विषयों पर बहुत भाव पूर्ण और ओजोमय राष्ट्रीय कविताएँ हैं। मूल्य ।।।)

पञ्चवटी

यह काव्य रामायण के एक अंश को लेकर लिखा गया है। कवि ने इसमें जिस सौंदर्य की सृष्टि की है, वह बहुत ही मनोमोहक है। मूल्य ।=)

अनघ

श्रीमैथिलीशरण गुप्त लिखित रूपक-काव्य। इसका कथानक बौद्ध जातक से लिया गया है। भगवान बुद्ध ने अपने पूर्व जन्म में जो प्राण्य सहन और मेहनत किया था, इसमें उसका विशद वर्णन है। यह ग्रन्थ हिन्दी में बिलकुल नये ढँग का है, अवश्य पढ़िये। मू० ।।।)

भारत-भारती

इसमें भारत के अतीत गौरव और वर्तमान पतन का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन है। इसका अध्ययन आपको देशभक्ति के पवित्र पथ की ओर अग्रसर करने में सहायक होगा। हिन्दू-विश्व-विद्यालय में यह पुस्तक बी० ए० के कोर्स में है। मूल्य १) और सुन्दर जिल्दवाला १।)

अन्य काव्य ग्रन्थ

जयद्रथ-वध—वीर और करुण रस का अद्वितीय खण्डकाव्य ॥) सजिल्द १)
रङ्ग में भङ्ग—मनोहर ऐतिहासिक खण्डकाव्य ।)
चन्द्रहास—भावपूर्ण नवीन पौराणिक नाटक ।॥)
तिलोत्तमा—गद्य-पद्य-मय सरस पौराणिक नाटक ॥)
शकुन्तला—शकुन्तला नाटक के आधार पर निराली रचना ।=)
किसान—एक किसान की करुण कथा का हृदयग्राहक वर्णन ।=)
पत्रावली—ओजस्वी ऐतिहासिक कविता-पुस्तक ।-)
वैतालिक—भारत की जागृति पर कोमल-कान्त-पदावली ।)
पलासी का युद्ध—बँगला के सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय काव्य का पद्यानुवाद १॥)
मौर्य्य-विजय—वीर रस प्रधान ऐतिहासिक खण्डकाव्य ।)
अनाथ—आधुनिक कथा-मूलक खण्डकाव्य ।)
भावना—भावमूलक विश्लेषण गद्यकाव्य १)
प्रलाप—राय कृष्णदास रचित गद्य काव्य ।=)
मेघदूत—मेघदूत का मनोरम पद्यानुवाद ।)
सुमन—पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी की फुटकर कविताओं का संग्रह १)
अजातशत्रु—'जयशङ्कर प्रसाद' रचित प्रसिद्ध नाटक १)
आँसू—'प्रसाद' जी की नई रचना ।)
प्रतिध्वनि—'प्रसाद' जी की छोटी छोटी कहानियों का संग्रह ।=)
परिचय—नवीन कवियों की चुनी हुई कविताओं का संग्रह १)

स्थायी ग्राहकों को विशेष सुविधा। स्थायी-ग्राहक बनिये। और अपने मित्रों को भी बनाइये।

प्रबन्धक—साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी)

अन्य काव्य ग्रन्थ

जयद्रथ-वध—वीर और करुण रस का अद्वितीय खण्डकाव्य ॥) सजिल्द १)
रङ्ग में भङ्ग—मनोहर ऐतिहासिक खण्डकाव्य ।)
चन्द्रहास—भावपूर्ण नवीन पौराणिक नाटक ।॥)
तिलोत्तमा—गद्य-पद्य-मय सरस पौराणिक नाटक ॥)
शकुन्तला—शकुन्तला नाटक के आधार पर निराली रचना ।=)
किसान—एक किसान की करुण कथा का हृदयद्रावक वर्णन ।=)
पत्रावली—ओजस्वी ऐतिहासिक कविता-पुस्तक ।-)
वैतालिक—भारत की जागृति पर कोमल कान्त-पदावली ।)
पलासी का युद्ध—बँगला के सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय काव्य का पद्यानुवाद १॥)
मौर्य्य-विजय—वीर रस प्रधान ऐतिहासिक खण्डकाव्य ।)
अनाथ—आधुनिक कथा-मूलक खण्डकाव्य ।)
भावना—भावमूलक विद्वत्पूर्ण गद्यकाव्य १)
मलाप—राय कृष्णदास रचित गद्य काव्य ।=)
मेघदूत—मेघदूत का मनोरम पद्यानुवाद ।)
सुमन—पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी की फुटकर कविताओं का संग्रह १)
अजातशत्रु—श्रीजयशङ्कर 'प्रसाद' रचित प्रसिद्ध नाटक १)
आँसू—'प्रसाद' जी की नई रचना ।)
प्रतिध्वनि—'प्रसाद' जी की छोटी छोटी कहानियों का संग्रह ।=)
परिचय—नवीन कवियोंकी चुनी हुई कविताओं का संग्रह १)

स्थायी ग्राहकों को विशेष सुविधा। स्थायी-ग्राहक बनिये। और अपने मित्रों को भी बनाइये।

प्रबन्धक—साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी)